

जनता का सम्प्रभु और बहुसंख्यकवाद

पार्थ चटर्जी

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

नरेंद्र मोदी की यह जीत दो परियोजनाओं की जुगलबंदी का परिणाम है : एक, मोदी को एक ऐसे निर्विवाद लोकप्रिय नेता के तौर पर प्रस्तुत करना जो राष्ट्रीय सुरक्षा की ज़िम्मेदारी निभा सकता है। दूसरी परियोजना हिंदू बहुसंख्यकवाद से परिभाषित हो कर राष्ट्रवाद के दीर्घकालिक विचार से ताल्लुक़ रखती है। हालाँकि भाजपा की इस चमत्कारिक चुनावी विजय को लोकलुभावन राजनीति की सफलता कहना भी ग़लत न होगा, लेकिन इसमें यह तथ्य दरकिनार हो जाता है कि यह परिणाम असल में दो नितांत भिन्न क़िस्म की राजनीतिक परियोजनाओं के समन्वय की ओर इशारा करता है।

इनमें एक परियोजना नरेंद्र मोदी को जनता द्वारा निर्वाचित एक ऐसे सम्प्रभु शासक के रूप में पेश करने की थी जो राष्ट्र की रक्षा के लिए दुश्मनों से लोहा ले सकता है। यह मुख्यत: एक चुनावी परियोजना थी। लेकिन इस परियोजना की ज़मीन हिंदी भाषा में चलाए गये एक लम्बे सांस्कृतिक उद्यम के ज़रिये तैयार की गयी थी, जिसमें भारतीय राष्ट्रीय-राज्य हिंदू बहुसंख्यकवाद के साथ क़दमताल कर रहा था। अभी यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि चुनाव की यह पॉपुलर परियोजना आगे कितनी कारगर होगी। अगर भविष्य के विधानसभा और राष्ट्रीय चुनावों में वह दुबारा परवान चढ़ सकती है तो अगली बार उसे नकारा भी जा सकता है। लेकिन, हिंदुत्व की सांस्कृतिक परियोजना भारत के उत्तरी और पश्चिमी इलाक़े में एक स्थायी साम्प्रदायिक बहुमत की नींव रख चुकी है। बहुलतावाद का विचार इतना कमज़ोर है कि वह इस बहुसंख्यकतावादी राष्ट्रवाद का मुक़ाबला नहीं कर सकता। इस बहुसंख्यक राष्ट्रवाद को केवल भारतीय राष्ट्र की यह संघीय दृष्टि ही चुनौती दे सकती है कि इस राष्ट्र में शामिल प्रत्येक इकाई समान हैसियत रखती है। हिंदू-हिंदी के इस बहुसंख्यकवाद को राज्यों के अधिकारों से निर्देशित एक सबल संघर्ष द्वारा ही परास्त किया जा सकता है।

इस दलील को आगे बढ़ाने से पहले 2014 तथा 2019 के चुनावों का तुलनात्मक आकलन करना उचित होगा।

2014 बनाम 2019

क्या 2019 के लोकसभा चुनावों को 2014 की पुनरावृत्ति कहा जा सकता है ? इसका जवाब हाँ या न, दोनों में दिया जा सकता है। दोनों चुनावों में कई तरह की समानताएँ और भिन्नताएँ एक साथ देखी जा सकती हैं। 2014 का चुनाव भी नरेंद्र मोदी के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द लड़ा गया था, लेकिन इस बार उनकी छवि पिछले चुनावों की छवि से ख़ासी अलग थी। 2014 में मोदी एक ऐसे नेता थे जो अपनी क्षेत्रीय पहचान के चौखट्टे से निकल कर पहली बार राष्ट्रीय मंच पर पहुँचे थे। मोदी निस्संदेह एक चर्चित नेता थे, लेकिन उनके साथ कुछ विवाद भी जुड़े थे।

गुजरात के दंगों (2002) में उनकी भूमिका संदिग्ध रही थी। लिहाज़ा, उन नकारात्मक चर्चाओं को दबाने के लिए एक आख्यान रचा गया। इस आख्यान में मोदी की जीवन-गाथा को ग़रीबी और पिछड़ी जाति में जन्मे एक आदमी की संघर्ष-गाथा बना कर पेश किया गया। यह आख्यान बताता था कि इस व्यक्ति ने अपना जीवन समाज-सेवा और लोगों की ख़ुशहाली के लिए समर्पित कर दिया है। लेकिन क़ुरबानी की यह कहानी पुराने संस्करण से अलग थी। इस संस्करण में वह गाँधी की तरह निर्धनता और त्याग पर ज़ोर नहीं देता था। इसके धुर उलट वह विकास के उस गुजरात मॉडल का शिल्पकार था जिसमें निजी क्षेत्र की उच्च-प्रोद्यौगिकी पर आधारित उद्योगों को सबसे ऊँचे पायदान पर रखते हुए यह दावा किया गया था कि इससे सृजित विकास का लाभ आनुषंगिक इकाइयों और सेवा-शृंखलाओं के ज़रिये बूँद-बूँद रिस कर समूची आबादी का कायापलट कर देगा। 'सबका साथ, सबका विकास' जैसा नारा इसी दावे की नुमाइंदगी करता था।

नरेंद्र मोदी ने 2014 के चुनावी अभियान में कांग्रेस के भ्रष्ट शासन और वंशवाद पर प्रहार करते हुए यह रेखांकित किया था कि अर्थव्यवस्था में सरकार की बेजा दख़लंदाज़ी के कारण ग़रीब, अल्पसंख्यक और दलित राजनीति के बँधुआ बन कर रह गये हैं। उन्होंने वायदा किया था भारतीय उद्योग जगत को वैश्विक प्रतिस्पर्धा में लाने के लिए कर-व्यवस्था और श्रम-क़ानूनों में व्यापक बदलाव किया जाएगा। मोदी ने उस समय हिंदुत्व या अयोध्या के मंदिर या समान नागरिक संहिता की कभी चर्चा नहीं की। भाजपा के दीगर नेता जब हिंदू राष्ट्रवाद की बात करते थे तो मोदी उससे गज़ भर की दूरी बनाए रखते थे।

नरेंद्र मोदी बड़े उद्योगपतियों के चहेते थे। भारतीय उद्योग-जगत के रहनुमाओं ने, जो इससे पहले राजनीतिक मामलों में फूँक-फूँक कर क़दम रखते थे और विभिन्न पार्टियों और उम्मीदवारों को चंदा देते समय अपनी पक्षधरता प्रकट करने से गुरेज़ करते थे, इस बार के आम चुनावों में भाजपा का खुल कर समर्थन किया।

भारत के चुनावी इतिहास में भाजपा का 2014 का अभियान सबसे ख़र्चीला अभियान था। डिजिटल और प्रिंट मीडिया में मोदी की चमक-दमक के आगे विपक्ष कहीं नहीं ठहर पाया। 2014 के परिणामों में भाजपा को पूर्ण बहुमत मिला। तीस साल के सफ़र में भाजपा पहली बार इस मुक़ाम पर पहुँची थी। इससे पहले भारत के उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों (महाराष्ट्र में शिवसेना की सहयोगी भूमिका के साथ) में भाजपा का आधार मुख्यत: शहराती और ऊँची जातियों तथा मध्यवर्ग के बीच माना जाता था। लेकिन मोदी की विशिष्ट छवि ने जातिगत विभाजन को धता बताते हुए शहरी और ग्रामीण जनता के व्यापक हिस्से, ख़ास तौर पर उपभोग के दमकते संसार में दाख़िल होने को बेताब युवा पीढ़ी पर किसी जादू की तरह असर किया।

लेकिन, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 2014 की मोदी-लहर कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित थी। भाजपा और उसके सहयोगी दलों— राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन ने कश्मीर घाटी को छोड़कर और पंजाब में आंशिक सफलता के साथ उत्तर और पश्चिमी भारत के तमाम राज्यों में जीत हासिल की थी। इस क्षेत्र के बाहर भाजपा को असम और कर्नाटक में भी कुछ सीटें मिली थीं। लेकिन

तमिलनाडु, केरल, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, ओडीशा, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा तथा उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों में उसका प्रदर्शन फीका रहा था। लिहाज़ा, इससे यह निष्कर्ष निकालना बहुत ग़लत न होगा कि 2014 की मोदी-लहर उत्तरी और पश्चिमी भारत के बाहर कोई ख़ास धमक पैदा नहीं कर सकी।

बीच का वक़्त : 2014-2019

आर्थिक मोर्चे पर मोदी सरकार का एक शुरुआती क़दम योजना आयोग को भंग करना था। यह एक तरह से इस तथ्य का प्रतीक था कि मोदी सरकार और अर्थव्यवस्था के बुनियादी संबंधों को बदलना चाहती है। लेकिन, उस समय वैश्विक या घरेलू, दोनों ही परिस्थितियाँ कड़े क़दम उठाने या सांस्थानिक सुधार करने के पक्ष में नहीं थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक वृद्धि में कोई उल्लेखनीय उछाल नहीं आ सका। 2008-09 के वित्तीय संकट के दूरगामी प्रभाव के चलते अमेरिकी और युरोपीय अर्थव्यवस्थाएँ मंदी का शिकार थीं। यहाँ तक चीन की अर्थव्यवस्था भी नीचे जा रही थी। भारत में विदेशी निवेश का प्रवाह मंद पड़ गया था और मैन्युफ़ैक्चरिंग का क्षेत्र लड़खड़ाने लगा था। औपचारिक क्षेत्र में रोजग़ार का सृजन बेहद सीमित था। इससे भी बुरी ख़बर ये थी कि कृषि क्षेत्र एक स्थायी संकट में प्रवेश कर चुका था। इसलिए मोदी की टीम के पास क़ानूनी और सांस्थानिक सुधार की जितनी भी योजनाएँ थीं उन पर कोई अमल नहीं किया जा सका। इनमें केवल वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) की परियोजना ही देश भर में लागू हो सकी। ग़ौरतलब है कि इस परियोजना पर मनमोहन सिंह के कार्यकाल से ही काम चल रहा था। इसके लिए भी सरकार को राज्यों और उद्योग-लॉबियों की मान-मनौवल करनी पड़ी और इसका नतीजा यह हुआ कि जीएसटी के नाम पर एक ऐसी भोंथरी कर-संरचना सामने आयी जिसमें राजस्व की मात्रा बढ़ने के बजाय और कम होने लगी।

फिर एक शिगूफ़ा छोड़ा गया। उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनाव से तीन महीने पहले नवम्बर 2016 में नरेंद्र मोदी ने 500 और 1000 के नोट बंद करने का ऐलान किया। नोटबंदी से अर्थव्यवस्था की चूलें हिल गयीं। इसके चलते साधारण जनता को ख़ासी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा। आर्थिक दृष्टि से यह एक निहायत मूर्खतापूर्ण फ़ैसला था, लेकिन मोदी अपनी बाजीग़री के ज़रिये जनता को यह समझाने में सफल रहे कि नोटबंदी से काले धन और भ्रष्टाचार से अमीर बने लोगों की दौलत बरामद करने में मदद मिलेगी। उत्तर प्रदेश के चुनावों में भाजपा को ज़बर्दस्त जीत मिलने के कारण यह शिगूफ़ा कामयाब रहा। दो साल बाद यह साफ़ हो गया कि नोटबंदी में रद्द किये गये तमाम नोट बाक़ायदा रिज़र्व बैंक में पहुँच चुके हैं। इस क़वायद का कुल नतीज़ा यह रहा कि छोटे स्तर के उद्योग-धंधे, खेती और अनौपचारिक क्षेत्र औंधे मुँह गिर गये।

लेकिन हर राजनीतिक चुनौती से इस तरह नहीं निपटा जा सकता था। किसानों का असंतोष ख़तरे की सीमा पार करने लगा था। किसानों का यह क्षोभ मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान में सड़कों पर दिखने लगा था। आंदोलनकारी किसान फ़सलों के बेहतर दाम और कृषि ऋण माफ़ करने की माँग कर रहे थे। किसानों का संकट उन्हें ख़ुदकुशी की तरफ़ धकेल रहा था। किसानों में आत्महत्या एक महामारी की तरह फैल रही थी। इस समस्या का एक रूप जाट, गूजर और पाटीदार जैसी दबंग खेतिहर जातियों द्वारा उच्च शिक्षा में आरक्षण की माँग के तौर पर भी प्रकट हो रहा था। विजय माल्या और नीरव मोदी जैसे व्यवसायियों पर बैंकों का भारी-भरकम लोन न चुकाने और देश से पलायन करने के आरोप लगने लगे थे। लोगबाग़ कहने लगे थे कि सरकार अडाणी और अम्बानी जैसे पूँजीपतियों से दोस्ती निभा रही है। लोग पूछ रहे थे कि क्रोनी कैपिटलिज़म (याराना पूँजीवाद) किसे कहते हैं!

भाजपा को 2018 के विधानसभा और उप-चुनावों में राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ तथा उत्तर प्रदेश में हार का सामना करना पड़ा। इन तमाम राज्यों को भाजपा का गढ़ माना जाता था। स्थिति यह थी कि भाजपा को गुजरात जैसे राज्य में भी कांग्रेस से कड़ी टक्कर मिली, जबकि पंजाब में उसके

लोकलुभावनवाद लोकतांत्रिक राजनीति का एक ऐसा रूप है जिसमें कोई संगठन या नेता विभिन्न समूहों की अनसुनी माँगों को आपस में गूँथ कर एकसार कर देता है और फिर वह यह दावा करता है कि ऐसी तमाम वास्तविक माँगें इसलिए पूरी नहीं हो रहीं क्योंकि एक सशक्त अभिजन समूह बीच में आ जाता है। इसमें जनता और उसके शत्रुओं के बीच एक आंतरिक सरहद गढ़ी जाती है। दरअसल, हवाई मुद्दों के इर्द-गिर्द जनता को आंदोलित करने की यह योग्यता एक कला है। इसके साथ यह भी ग़ौरतलब है कि लोकलुभावनवाद का प्रभाव थोड़े समय के लिए ही रहता है; ... माँग बदल जाने पर लोकलुभावनवाद पर आधारित यह गोलबंदी अकसर बिखर जाती है।

सहयोगी अकाली दल को कांग्रेस के हाथों हार का मुँह देखना पड़ा। इन चुनौतियों से पार पाने के लिए मोदी सरकार ने निर्धन लोगों के लिए आवासीय योजनाओं में सब्सिडी प्रदान करने और मेडिकल बीमे तथा 2019 की शुरुआत में अनौपचारिक क्षेत्र में पेंशन देने तथा लघु व सीमांत किसानों को सीधे नक़दी भेजने जैसे लुभावने उपायों की झड़ी लगा दी।

एक बार जब आर्थिक सुधारों का मसला एजेंडे से बाहर हुआ तो भाजपा की हिंदुत्व लॉबी ने राजनीति की पूरी कमान अपने हाथों में ले ली। गोरखपुर मठ के केसरिया धारी महंत उर्फ़ देश के सबसे बड़े राज्य के मुख्यमंत्री की साम्प्रदायिक लफ़्फ़ाजी से हौसला पाकर गो-रक्षा का एक नया अभियान शुरू किया गया। यह एक ऐसा अभियान था जिसमें कोई केंद्रीय तालमेल न होने के बावजूद लोगबाग़ गोवंश के स्वयंभू रक्षक बनते चले गये। मुसलमानों पर गाय काटने, उसकी तस्करी करने, गोमांस रखने और खाने के आरोप लगा कर जगह-जगह हमले किये गये। कन्नड़ पत्रकार गौरी लंकेश की उनके 'हिंदू-विरोधी' विचारों के लिए हत्या की गयी। ग़ौरतलब है कि उनकी हत्या में वही गुट शामिल था जिसने कुछ अर्सा पहले वैज्ञानिक और तर्कवादी सोच के लेखक नरेंद्र दाभोलकर और एम.एम. कलबुर्गी की हत्या की थी। इसके बाद सर्वोच्च न्यायालय में याचिकाएँ दाख़िल करके अयोध्या में राम मंदिर के मुद्दे को फिर हवा दी गयी। भाजपा ने उत्तर प्रदेश के विधानसभा चुनावों में एक भी मुसलमान प्रत्याशी न खड़ा करके यह संकेत दे दिया था कि उसका अगला चुनावी अभियान विकास के बजाय हिंदुत्व पर केंद्रित रहेगा। लेकिन 2018 के उत्तरार्ध में राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में मिली पराजय के बाद यह शंका गहराने लगी कि इस बार मुसलमान-विरोध की आजमूदा चाल कितनी कामयाब हो पाएगी।

इस तरह, विपक्ष के लिए लड़ाई की ज़मीन 2019 के चुनाव से पहले ही तैयार हो चुकी थी। वह उत्तरी और पश्चिमी भारत के भाजपा शासित राज्यों में सरकार के ख़िलाफ़ बढ़ रहे व्यापक असंतोष का लाभ उठाने की स्थिति में आ गया था। विपक्षी दलों में एक विश्वसनीय गठबंधन बनाने का उत्साह भी नज़र आ रहा था। जनवरी, 2019 में कोलकाता में आयोजित विशाल रैली इस जोश की तसदीक़ करती थी। लेकिन, जैसे ही सीटों के बँटवारे या साझे कार्यक्रम का प्रश्न सामने आया तो विपक्षी एकता का यह शीराजा बिखर गया। उत्तर भारत में अपनी हालिया कामयाबी के नशे में चूर कांग्रेस को लग रहा था कि वह भाजपा से अकेले लड़ सकती है। कुल मिलाकर, नतीजा यह रहा कि विपक्षी दल कोई राष्ट्रीय मोर्चा खड़ा नहीं कर सके। केवल उत्तर प्रदेश में ही समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी और राष्ट्रीय लोकदल का चुनावी गठजोड़ आकार ले सका।



मोदी : जनता का सम्प्रभु

2019 के इस चुनाव को दक्षिणपंथी लोकलुभावनवाद की विजय बताया जा रहा है— यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसने पिछले कुछ अर्से से पूरी दुनिया को अपनी चपेट में लिया है। लेकिन यहाँ कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ भी हैं जिन्हें दर्ज किये बिना लोकलुभावनवाद की समझ अधूरी बनी रहेगी।

पश्चिमी देशों में लोकलुभावनवाद लोकतांत्रिक राजनीति के एक विशिष्ट रूप की तरह उभरा है। इसके उभार की परिस्थितियों पर ध्यान दिया जाए तो यह एक ऐसी स्थिति में विकसित हुआ है जहाँ कल्याणकारी राज्य धराशायी हो चुका है तथा सरकार और समाज के बीच जनाधारित राजनीतिक दलों और श्रमिक संगठनों की मध्यस्थता समाप्त हो चुकी है। अब सरकारी तंत्र चिकित्सा की सार्वभौम व्यवस्था अथवा बेरोज़गारी के बीमे या मुफ़्त शिक्षा तथा कुछ विशेष प्रकार की सुविधाएँ पूरी जनता को प्रदान न करके छोटे-छोटे समूहों को देने लगा है। और इसके पीछे राजनीति का एक तात्कालिक गुणा-भाग काम करता है। इसलिए, अब लोकतंत्र में विभिन्न समूह अलग-अलग तरह की माँग उठाने लगे हैं। इससे शासकों को यह लाभ मिलता है कि किसी एक माँग के इर्द-गिर्द व्यापक लामबंदी की गुंजाइश ख़त्म हो जाती है। भारत में कभी ऐसा कल्याणकारी राज्य था ही नहीं जो सभी नागरिकों को कुछ सार्वभौम लाभ प्रदान करने का वादा करता हो। इसके बजाय, हमारे यहाँ सातवें दशक के बाद लोकतंत्र का विस्तार कुछ इस तरह हुआ है कि उसमें शहरी मध्यवर्ग से बाहर पड़ने वाले समूहों ने राजनीतिक रूप से संगठित होकर कुछ दावेदारी करना सीख लिया है। यहाँ भी प्रशासन की तकनीक यह रही है कि सार्वभौम सुविधाओं और लाभ की घोषणा करने के बजाय कुछ ख़ास समूहों की माँग मान ली जाए। भारत में निर्धन और जनता के सीमांत समूहों को सब्सिडीयुक्त खाद्य, काम की गारंटी प्रदान करने वाली योजनाएँ, आवासीय ऋण, मुफ़्त स्कूली शिक्षा अथवा अस्पतालों में नि:शुल्क चिकित्सा जैसी लक्षित सुविधाएँ सातवें दशक में ही शुरू हो गयी थीं। पार्टी की विचारधारा कोई भी हो, इस मामले में हरेक सरकार की नीति कमोबेश एक जैसी रही है। इन्हें भारतीय लोकलुभावनवाद की विशेषता नहीं माना जा सकता।

लेकिन, लोकतंत्र में सारी माँगें कभी पूरी नहीं की जा सकतीं। लोकलुभावनवाद लोकतांत्रिक राजनीति का एक ऐसा रूप है जिसमें कोई संगठन या नेता विभिन्न समूहों की अनसुनी माँगों को आपस में गूँथ कर एकसार कर देता है और फिर वह यह दावा करता है कि ऐसी तमाम वास्तविक माँगें इसलिए पूरी नहीं हो रहीं क्योंकि एक सशक्त अभिजन समूह बीच में आ जाता है। इसमें जनता और उसके शत्रुओं के बीच एक आंतरिक सरहद गढ़ी जाती है। दरअसल, हवाई मुद्दों के इर्द-गिर्द

मोदी की एक ऐसे मज़बूत नेता की छवि तैयार की गयी जो दुनिया की आला ताक़तों के साथ वैश्विक मंच पर उठ-बैठ करता है। इस छवि पर फिर एक और छवि का आरोपण किया गया कि मोदी के पास सशस्त्र सेना का नेतृत्व करने की भी अपूर्व क्षमता है। मोदी ने पाकिस्तान का ज़िक्र कर करके 'सर्जिकल स्ट्राइक' जैसा शब्द घर-घर पहुँचा दिया। इससे पहले इस शब्द का इस्तेमाल ... पुलवामा में फ़रवरी के आतंकी हमले और बालाकोट में भारत की जवाबी कार्रवाई ने भाजपा के हाथों में एक अवसर थमा दिया कि वह चुनाव के समूचे अभियान को मोदी के पक्ष में झुका सके। इस कार्रवाई के बाद विपक्ष पूरी तरह लाचार नज़र आया।

जनता को आंदोलित करने की यह योग्यता एक कला है। इसके साथ यह भी ग़ौरतलब है कि लोकलुभावनवाद का प्रभाव थोड़े समय के लिए ही रहता है; सरकार के जवाब या माँग बदल जाने पर लोकलुभावनवाद पर आधारित यह गोलबंदी अकसर बिखर जाती है।

भारत में लोकलुभावन दलों और नेताओं का एक लम्बा इतिहास रहा है। पार्टी और नेता के रूप में तमिलनाडु में एम.जी. रामचंद्रन की पार्टी अन्नाद्रमुक और आंध्र प्रदेश में एन.टी. रामाराव की तेलुगु देशम इसके अप्रतिम उदाहरण थे। पश्चिम बंगाल में आज यही भूमिका ममता बनर्जी निभा रही हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इसका इकलौता उदाहरण इंदिरा गाँधी की शख़्सियत में देखा जा सकता है जिन्होंने सातवें दशक में कांग्रेस के संगठन में दो फाड़ करके पुराने नेतृत्व का बिस्तर गोल कर दिया था और पाकिस्तान को युद्ध में करारी शिकस्त दी थी। लोकलुभावन संगठन में नेता जनता और उसके शत्रुओं का मूर्तिमान रूप बन जाता है। वह केवल जनता का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता बल्कि उसके साथ एकाकार हो जाता है। इस तरह, नेता के शत्रु जनता के भी शत्रु बन जाते हैं। जब तक कोई लोकलुभावन दल नेता की इस भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह करता रहता है तब तक वह अपने जनाधार में होने वाले बदलाव का अनुकूलन करने में सक्षम रहता है। यह नेता जनता द्वारा चुना गया सम्प्रभु होता है और जनता उसे अपने शत्रुओं से लड़ने तथा इंसाफ़ दिलाने के लिए असीमित शक्ति देने को तैयार रहती है। इससे एक ऐसी राजनीतिक शैली का जन्म होता है जो नायक के महिमामण्डन और सत्ता के केंद्रीकरण पर टिकी होती है : नेता को अंदर से कोई भी चुनौती नहीं दे सकता, विपक्ष को डरा-धमका कर रखा जाता है और जनकल्याण के नाम पर संस्थागत नियमों की धज्जियाँ उड़ाई जाती है। लेकिन, यह पॉपुलिस्ट नेता तानाशाह नहीं होता क्योंकि विपक्ष को चुनावों में हराकर उसे नियमित अंतराल पर जनादेश हासिल करना होता है।

भाजपा ने 2019 के आम चुनावों को उग्र हिंदू राष्ट्रवाद के मुद्दे पर लड़ने का फ़ैसला शायद उत्तर प्रदेश के चुनाव (2017) के समय ले लिया था। इस अभियान का एक पहलू कश्मीर के आंदोलनकारियों, जनाधिकारों की बात करने वाले कार्यकर्ताओं तथा विश्वविद्यालय परिसरों में वामपंथी छात्रों के विरुद्ध कड़ा रुख़ अपनाने और दूसरा इस्लामी आतंकी समूहों की तरफ़ से आने वाले ख़तरों और उनके पीछे पाकिस्तान की कथित भूमिका पर ज़ोर देने से जुड़ा था। इस क्रम में संसद में तीन तलाक़ का क़ानून पारित करके छद्म-धर्मनिरपेक्षता की पुरानी बहस को दुबारा हवा दी गयी। इसी तरह, लोकसभा में पड़ोसी मुस्लिम देशों में धार्मिक उत्पीड़न के शिकार ग़ैर-मुस्लिम पीड़ितों को भारत की नागरिकता प्रदान करने के लिए नागरिकता क़ानून में संशोधन किया गया। यह नागरिकता को धार्मिक आधार देने की एक साफ़ कोशिश थी। असम में वैध दस्तावेज़ों के बग़ैर रह रहे विदेशियों की पहचान करने के लिए नागरिकों का एक राष्ट्रीय रजिस्टर पूरा करने की मुहिम छेड़ी गयी।

इसके बाद मोदी की एक ऐसे मज़बूत नेता की छवि तैयार की गयी जो दुनिया की आला ताक़तों

के साथ वैश्विक मंच पर उठ-बैठ करता है। इस छवि पर फिर एक और छवि का आरोपण किया गया कि मोदी के पास सशस्त्र सेना का नेतृत्व करने की भी अपूर्व क्षमता है। मोदी ने पाकिस्तान का ज़िक्र कर करके 'सर्जिकल स्ट्राइक' जैसा शब्द घर-घर पहुँचा दिया। इससे पहले इस शब्द का इस्तेमाल केवल इज़रायल और अमेरिका के फ़ौजी दायरे में ही किया जाता था। पुलवामा में फ़रवरी के आतंकी हमले और बालाकोट में भारत की जवाबी कार्रवाई ने भाजपा के हाथों में एक अवसर थमा दिया कि वह चुनाव के समूचे अभियान को मोदी के पक्ष में झुका सके। इस कार्रवाई के बाद विपक्ष पूरी तरह लाचार नज़र आया। हमले और जवाबी कार्रवाई को लेकर भाजपा ने जो विमर्श गढ़ा उसका विरोध करना देशद्रोह का पर्याय बन गया। इस तरह, मोदी युद्ध से जूझते भारत का प्रतीक बन गये और उनके निंदक राष्ट्र के शत्रु। इस प्रकार, वह चक्र पूरा हो गया जिसमें नेता जनता के साथ एकाकार हो चुका था और जनता अपने नेता के विरोधियों के ख़िलाफ़ लामबंद हो चुकी थी।

एक बार जब आम चुनाव का पूरा हुलिया इस तरह तैयार कर लिया गया कि लोग अपने प्रधानमंत्री का चुनाव करने जा रहे हैं तो विपक्ष के पास कोई ज़मीन ही नहीं बची। हालत यहाँ तक पहुँची कि जो मतदाता भाजपा के प्रत्याशियों से नाख़ुश दिख रहे थे उन्हें इस प्रश्न से घेरा गया : 'अगर मोदी नहीं, तो फिर कौन?' जब एकमात्र निर्णायक प्रश्न यह बन गया कि देश को सबसे अच्छा नेतृत्व कौन दे सकता है तो इसके सामने आर्थिक समस्याओं, जातिगत निष्ठा, स्थानीय गौरव और उम्मीदवारों की योग्यता के तमाम सवाल बेमानी हो गये। विपक्ष के पास इसका कोई जवाब नहीं था।

क्षेत्रीय सीमाएँ

हालाँकि इस चुनाव में भाजपा की विजय 2014 की विजय से भी ज़्यादा प्रभावशाली दिखाई देती है, लेकिन, इसके बावजूद हमें यह देखने में चूक नहीं करनी चाहिए कि भाजपा की इस सफलता की कुछ क्षेत्रीय सीमाएँ भी हैं। उत्तर और पश्चिमी भारत में भाजपा ने अपना पिछला प्रदर्शन दोहराया है, परंतु केरल, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश में उसे पैर जमाने का मौक़ा नहीं मिला। तेलंगाना और ओडीशा में उसकी कामयाबी को आंशिक ही कहा जा सकता है। लेकिन पूर्वी भारत में भाजपा का प्रदर्शन हर तरह से चौंकाने वाला है। असम और त्रिपुरा में जीत हासिल करने के बाद इस इलाक़े में भाजपा का विस्तार 2018 में शुरू हुआ था। हालाँकि पूर्वोत्तर में नागरिकता संशोधन विधेयक को लेकर काफ़ी नाराजग़ी थी, लेकिन भाजपा को पूरा चुनाव एक व्यक्ति पर केंद्रित करने का लाभ यह मिला कि एक ओर वह अपने जनाधार को बचाने में सफल रही तो दूसरी ओर उसने अपने सहयोगी दलों को भी नहीं बिखरने दिया। पश्चिमी बंगाल में भाजपा की सफलता अभूतपूर्व है। यह इस बात का भी संकेत है कि राज्य के अगले विधानसभा चुनावों में सत्ता का पासा पलट सकता है।

क्षेत्रीय सीमाओं का क्या निहितार्थ हो सकता है? लेकिन, इससे पहले हमें यह पूछना होगा कि भारत के उत्तरी और पश्चिमी राज्यों के राजनीतिक माहौल में कौन-सी बात समान है। यह कहना ग़लत न होगा कि यह एक ऐसा परिवेश है जिसमें लोकतांत्रिक राजनीति मुख्यत: हिंदी के ज़रिये संसाधित होती है। इस क्षेत्र में हिंदी एक ऐसी भाषा के रूप में जम चुकी है जो केवल उसके मूल प्रयोक्ताओं तक सीमित नहीं है। वह अब उन लोगों की भाषा भी बन चुकी है जो केवल उसे बोलना जानते हैं। महाराष्ट्र और गुजरात का हर नेता धड़ल्ले से हिंदी बोलता है। इस मामले में केवल नरेंद्र मोदी या अमित शाह ही अपवाद नहीं है। एक पीढ़ी पहले यह स्थिति नहीं थी। सिनेमा, टेलीविज़न और सोशल मीडिया के ज़रिये जन-व्यापी सांस्कृतिक उत्पादों की वाहक बन कर हिंदी इस समूचे क्षेत्र में राजनीति की सम्पर्क-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मुसलमानों के अत्याचार के विरुद्ध हिंदुओं के प्रतिरोध की लम्बे समय से चली आ रही गाथाएँ आपस में गुँथ कर ऐतिहासिक स्मृति का एक साझा स्रोत बन गयी हैं। साझी स्मृतियों का यह विमर्श आक्रामक

हिंदू बहुसंख्यक राष्ट्रवाद के आगे बहुलतावाद कहीं नहीं ठहरता, क्योंकि वह केवल इतनी माँग करता है कि अल्पसंख्यकों का बहिष्कार न किया जाए। वह बहुसंख्यक जमात की चौधराहट को चुनौती नहीं देता। इसका एकमात्र कारगर उपाय यह है कि समाज के हर समूह-समुदाय के लिए अधिकारों की अधिकतम बराबरी का दावा बुलंद किया जाए। राजनीति के क्षेत्र में यह संघर्ष इस माँग से शुरू किया जा सकता है कि सरकार की हरेक प्रमुख संस्था में राज्यों को बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए।

हिंदू राष्ट्रवाद के लिए एक खुराक का काम करता है। ग़ौर करें कि एक समय मुसलमानों के अत्याचार के क़िस्से महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में अलग-अलग रूप रखते थे। इस प्रक्रिया के समानांतर समूचे क्षेत्र में युवाओं के बीच राम और हनुमान की एक बेहद लड़ाकू कल्ट का भी अभूतपूर्व प्रसार हुआ है।

सबसे विस्मयकारी तथ्य यह है कि हिंदी क्षेत्र की इस मास-संस्कृति ने पूर्वी भारत को बहुत तेज़ी से अपनी गिरफ़्त में लिया है। बंगाल और पूर्वोत्तर क्षेत्र से युवाओं की एक बहुत बड़ी संख्या काम की खोज भारत के अपेक्षाकृत सम्पन्न राज्यों में जाती है। इनमें पेशेवर और श्रमिक, दोनों प्रकार के युवा शामिल हैं। हिंदी की सांस्कृतिक दुनिया में अपनी पक्की पहचान बनाने के लिए ऐसे युवा बहुसंख्यकतावादी हिंदू राष्ट्रवाद का पल्लू पकड़ रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों के दौरान इस क्षेत्र में राम और हनुमान से संबंधित धार्मिक त्योहारों का बहुत चमत्कारिक ढंग से विस्तार हुआ है। भाजपा ने पश्चिम बंगाल और असम में बांग्लादेश से आने वाले मुस्लिम घुसपैठियों का ख़तरा दिखा कर मतदाताओं का जिस तरह ध्रुवीकरण किया है, उसे इस सामाजिक संदर्भ के बिना नहीं समझा जा सकता। यह इस ध्रुवीकरण का ही नतीजा था कि भाजपा असम और त्रिपुरा में अपना पिछला प्रदर्शन दोहराने तथा पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे और कांग्रेस का समूल सफ़ाया करने में कामयाब रही।

अब आगे क्या?

यह सोचना ग़लत होगा कि आर्थिक ग़ैर-बराबरी, नौकरी, किसानों के संकट तथा जातिगत संघर्ष जैसे मुद्दे हमेशा के लिए ख़त्म हो चुके हैं। राज्य और स्थानीय स्तर पर राजनीति की धूल बैठते ही ऐसे मुद्दे फिर सिर उठाने लगेंगे। राज्यों की राजनीति में क्षेत्रीय दल फिर वापसी करेंगे। इस सम्भावना से हरगिज़ इनकार नहीं किया जा सकता कि जैसे ही अन्य मुद्दे सामने आएँगे तो भाजपा को उत्तर प्रदेश, गुजरात या महाराष्ट्र में चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। इसलिए, यहाँ इस तथ्य पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि 2019 में चुनावी सफलता की यह कहानी दो अलग-अलग राजनीतिक परियोजनाओं को एक-दूसरे के साथ गूँथ कर तैयार की गयी थी : इनमें एक परियोजना का लक्ष्य नरेंद्र मोदी को एक ऐसे निर्विवादित और पॉपुलिस्ट नेता के रूप में पेश करना था जो देश की सुरक्षा का भरोसेमंद रक्षक हो सकता है। और दूसरी परियोजना हिंदू बहुसंख्या पर आधारित राष्ट्रवाद की थी। इन दोनों परियोजनाओं का समन्वय इसलिए किया जा सका क्योंकि चुनावों का आयोजन पूरे देश में एक साथ किया जा रहा था।

इसलिए, यह तय है कि राज्य स्तर पर क्षेत्रीय मुद्दों और दलों की प्रासंगिकता बनी रहेगी तथा क्षेत्रीय लोकलुभावन नेताओं और उन्हें चुनौती देने वाले अन्य नेताओं का सिलसिला भी चलता रहेगा। भारत के किसी भी राज्य में भाजपा का सहज एकाधिकार नहीं है। लेकिन, जहाँ तक राष्ट्रीय स्तर का सवाल है तो हिंदुत्व की परियोजना ने हिंदी-प्रधान संस्कृति के विशाल आकार के आधार पर साम्प्रदायिक बहुमत का एक स्थायी ताना-बाना तैयार कर लिया है। फिर भी, इस सांस्कृतिक वर्चस्व को संसदीय बहुमत में बदलने के लिए मोदी जैसे लोकलुभावन प्रतीक की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन,

यह निश्चित है कि विपक्ष का कोई भी चुनावी गठजोड़ हिंदुओं की बहुसंख्यता पर आधारित इस सांस्कृतिक परियोजना के आगे टिक नहीं पाएगा।

इसका एकमात्र राजनीतिक जवाब भारतीय राष्ट्र-राज्य और लोगों के आपसी संबंध की पुनर्परिभाषा में निहित है क्योंकि राष्ट्र की सम्प्रभुता उन्हीं के हाथों में है। हालाँकि औपचारिक तौर पर भारतीय संविधान को एक संघीय संविधान माना जाता है, लेकिन इसमें एकात्मकता का तत्त्व शुरू से ही प्रबल रहा है। हाल के वर्षों में यह प्रवृत्ति और मज़बूत हुई है। 1980 के दशक में संघीय व्यवस्था का विस्तार करने की बातें खूब की जाती थीं, अब वह विचार लगभग ग़ायब हो चुका है। इस दौरान वित्तीय मामलों में राज्य केंद्रीय सहयोग पर इतना निर्भर करने लगे हैं कि संघीय राजनीति भिक्षावृत्ति बन कर रह गयी है।

इस हिंदू बहुसंख्यक राष्ट्रवाद के आगे बहुलतावाद कहीं नहीं ठहरता, क्योंकि वह केवल इतनी माँग करता है कि अल्पसंख्यकों का बहिष्कार न किया जाए। वह बहुसंख्यक जमात की चौधराहट को चुनौती नहीं देता। इसका एकमात्र कारगर उपाय यह है कि समाज के हर समूह-समुदाय के लिए अधिकारों की अधिकतम बराबरी का दावा बुलंद किया जाए। राजनीति के क्षेत्र में यह संघर्ष इस माँग से शुरू किया जा सकता है कि सरकार की हरेक प्रमुख संस्था में राज्यों को बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए। इस दिशा में एम.के. स्टालिन यह कह कर शायद पहला गोला दाग़ चुके हैं कि हिंदी का एकछत्र राज ख़त्म होना चाहिए। यह बाक़ायदा एक जायज़ सवाल है : अगर हिंदी इलाक़े के नेता किसी अन्य भारतीय भाषा में बोलने का दबाव महसूस नहीं करते तो दूसरे क्षेत्र के नेताओं से यह उम्मीद क्यों करनी चाहिए कि वे हिंदी को भारतीय लोकतंत्र की सहज भाषा मान लेंगे? लोकतंत्र में बराबरी बहुत सशक्त मूल्य होता है। भारतीय राष्ट्र में बराबरी के इस मूल्य को जनता की बुनियादी बनावट में भी अंतर्भुक्त होना चाहिए।